



**घनश्याम ढौंडियाल**

प्रधानाध्यापक, राजकीय प्राथमिक विद्यालय  
स्यूनी मल्ली, गैरसैण, चमोली

...ताकि गैरसैण के बच्चे  
न रह जायें पीछे



सहायक अध्यापक	- रमेश चन्द्र निराला
सी.आर.सी.सी.	- नवीन प्रकाश वर्मा
भोजनमाता	- जमुना देवी, सुरेशी देवी
नामांकन	- 35

**उ**त्तराखण्ड राज्य को विकास की छोटी इकाई के रूप परिकल्पित किया गया था। लोगों का सपना था कि सुंदर पर्वतीय राज्य में विकेंद्रीकृत नियोजन हो सकेगा। इसी बात को केंद्र में रखकर गैरसँण को राज्य की राजधानी के रूप में देखा जा रहा था। गैरसँण, राज्य के मध्य में स्थित प्राकृतिक रूप से अप्रतिम एक घाटी है। इस जगह की ओर देश के पहले प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू का ध्यान पहले पहल आकर्षित किया था उत्तराखण्ड के महान नायक वीर चन्द्र सिंह 'गढ़वाली' ने। 'गढ़वाली' ने मांग की थी कि यह जगह उत्तर प्रदेश की ग्रीष्मकालीन राजधानी बने। उन्होंने यह भी सोचा था कि कभी पृथक पर्वतीय राज्य बना तो यहां उसकी राजधानी स्थापित की जाएगी। तब हिमाचल प्रदेश पंजाब से अलग नहीं हुआ था और एक दायरे में यह बात चलती थी कि पंजाब और उत्तर प्रदेश के पर्वतीय हिस्से को एक अलग राज्य की शकल मिलेगी। उसके बाद, सी. पी.आई. के पहले महासचिव पी.सी. जोशी ने पहली बार 1952 में उत्तराखण्ड राज्य की मांग पेश की। 1979 में मसूरी में उत्तराखण्ड क्रांति दल की स्थापना इस मकसद के साथ हुई कि यह दल उत्तराखण्ड राज्य की मांग मुखर करेगा। तब से राज्य के लोग और यहां के प्रवासी राज्य निर्माण के लिए आंदोलन करते रहे। 1994 में उत्तराखण्ड राज्य की मांग को लेकर आंदोलन बहुत मुखर हो गया। 40 से अधिक लोगों को इस आंदोलन में

शहादत देनी पड़ी। अंततः 15 अगस्त 1996 को तत्कालीन प्रधानमंत्री एच.डी. देवगोड़ा ने लाल किले की प्राचीर से पृथक उत्तराखण्ड राज्य की घोषणा की। हालांकि



राज्य को अस्तित्व में आने में फिर चार साल लगे, जब 9 नवंबर 2000 को उत्तरांचल नाम से राज्य का गठन हुआ। इसे फिर से उत्तराखंड नाम देने में पांच साल लग गए। राज्य निर्माण की भावना के साथ जो सबसे बड़ा छल हुआ वो था, राज्य की स्थायी राजधानी घोषित न किया जाना। पहले से संपन्न देहरादून को अस्थायी राजधानी बनाया गया, जो भौगोलिक रूप से प्रदेश की बहुसंख्यक आबादी के लिए सुगम जगह नहीं थी। राज्यवासियों में इस बात को लेकर असंतोष को देखकर सरकारों ने गैरसैंण में, हाल के दिनों में, कुछ निर्माण किये हैं और विधान सभा के कुछ सत्र वहां चलते हैं। लेकिन, न देहरादून और न ही गैरसैंण अभी स्थायी राजधानी बन सके हैं। इस तरह के रवैये से राज्यवासियों के सुंदर पर्वतीय राज्य बनाने के सपने को धक्का लगा है।

विकास का केंद्र देहरादून होने से सरकारी मशीनरी का सारा जोर देहरादून और प्रदेश के अन्य मैदानी हिस्सों पर केंद्रित है। इसी असंतुलन के कारण आज पहाड़ के अस्पतालों में डॉक्टर नहीं टिकते, सरकारी कर्मचारी देहरादून, हरिद्वार, उधम सिंह नगर और नैनीताल जिलों के मैदानी हिस्सों में स्थानांतरण के लिए लालायित रहते हैं। शिक्षा व्यवस्था को भी इस मानसिकता ने गहरा आघात पहुंचाया है। शिक्षक भी अपना स्थानांतरण मैदानी या नगरीय क्षेत्रों में करवा लेते हैं। नौबत यहां तक पहुंच गयी है कि शिक्षक संगठनों के समान्तर दुर्गम शिक्षक संगठन बनने लगे हैं। पंचायती इकाई जिसे विकास का केंद्र होना था वह हाशिये पर धकेल दी गयी हैं। पहले से पलायन के लिए मजबूर पर्वतवासी अब बड़ी मुहिम के



तहत पहाड़ छोड़ने को विवश हो रहे हैं। 2011 की जनगणना में राज्य के सबसे पुराने दो जिलों— पौड़ी और अल्मोड़ा की आबादी नेगेटिव ग्रोथ में जा पहुंची है। दूसरी

तरफ, सीमित मैदानी हिस्से में अतिशय मानव घनत्व बढ़ा है। जो असहाय लोग पहाड़ों में टिके हैं उन्हें दूसरे दर्जे का नागरिक माना जाने लगा है। उनके मन में कुंठा घर करने लगी है।

इसी परिदृश्य के बीच कुछ शिक्षक ऐसे भी हैं जिन्होंने धारा के विपरीत जाते हुए अपना केंद्र पहाड़ के दुर्गम कहे जाने वाले क्षेत्र में स्थापित किया है। शिक्षा को संभवतः इसलिए ही पीड़ित मानव समुदाय की शरणस्थली कहा जाता है। शिक्षकों के इसी संवेदनशील और प्रतिबद्ध समुदाय से आते हैं घनश्याम ढौंडियाल। घनश्याम जी की शिक्षा चमोली जनपद मुख्यालय गोपेश्वर और फिर देहरादून में हुई लेकिन उन्होंने मन बनाया गैरसैंण में काम करने का। गैरसैंण में रहे ही नहीं बल्कि उसे संवारने का भी हर संभव यत्न वो कर रहे हैं। इस अभियान में उनका औजार है शिक्षा। शिक्षा के जरिये उन्होंने यह साबित कर दिखाया कि गुणवत्ता के लिए कोई जगह पिछड़ी नहीं होती।

ऐसा नहीं है कि घनश्याम जी राज्य निर्माण आंदोलन से चर्चा में आये तथा गैरसैंण कस्बे में रहते और काम करते हैं। उनका पैतृक घर तो है, अब राज्य की दूसरी निर्माणाधीन विधान सभा भराड़ीसैंण के पास, जो समीपवर्ती दूधातोली की पहाड़ी में स्थित है। मगर, वो पढ़ाते और रहते हैं गैरसैंण के स्यूणी मल्ली में। यानी जो हमें दूर से पिछड़ा लगता है उसके भी पिछड़े में। यहां पहुंचने के लिए पहले गैरसैंण से मेहलचोरी वाली रोड में 8 किलोमीटर चलना पड़ता है, फिर सड़क से 5 किलोमीटर की खड़ी

चढ़ाई के बाद आता है उनका स्कूल ।

1999 में प्राथमिक शिक्षक बने घनश्याम जी का यह दूसरा स्कूल है । नियुक्ति के कुछ समय बाद ही इस स्कूल में आ गए । आये तो फिर यहां से डिगे नहीं । स्थानांतरण के बारे में उनसे पूछा तो कहते हैं, पिछड़ी जगहों पर भला आज कौन आना चाहता है । और पिछड़ी जगह से मैं हटना नहीं चाहता । नरेंद्र सिंह नेगी का गीत याद करते हुए कहते हैं, "सब्बी धाणी देहरादून' हो जायेगा तो कैसे चलेगा । आगे कहते हैं, अब तो गांव वाले भी मुझे जाने नहीं देंगे, मैं तो इसी गांव का हो गया ठहरा । कैसे ले जा सकेगा कोई मुझे मेरी जड़ों से उखाड़कर । आगे जोड़ते हैं— 2008 में जूनियर हाईस्कूल और एल.टी. में प्रमोशन मिला था । मगर नहीं गया । विभाग से अनुरोध किया, मुझे यहीं रहने दीजिये, और विभाग मान भी गया । अब लोग समझने लगे हैं मैं किस तरह का काम कर रहा हूं ।

*भाई साब यह तो बिल्कुल सच बात है कि ऐसी जगह कोई नहीं आना चाहेगा, मगर आपका मन यहां क्यों लग गया? आप क्यों अलग होना चाहते हैं? मैं पूछता हूं ।*

हां, अलग तो मैं होना चाहता हूं और शायद यही अलग बात है । फिर..लंबी सांस भरते हुए वे कहते हैं, मुझ पर स्वामी मन्मथन का गहरा प्रभाव रहा है । जब पहाड़ की ओर कोई देखता भी नहीं था तब स्वामी ने केरल से आकर यहां इस क्षेत्र में शिक्षा की अलख जगायी । वे बाबा टाइप के स्वामी नहीं थे, निपट कर्मयोगी थे । पहले श्री भुवनेश्वरी महिला आश्रम (एस.बी.एम.ए.) की स्थापना और फिर पर्वतीय क्षेत्र में विश्वविद्यालय की स्थापना का बीड़ा उन्होंने उठाया । आज के गढ़वाल और कुमाऊं विश्वविद्यालय उन्हीं के प्रयासों की देन हैं । विद्यालय को वे डिग्री बांटने वाली संस्था के रूप में नहीं देखते थे, बल्कि स्थानीय समुदाय के चेतना बढ़ाने वाले केंद्र के रूप में देखते थे । उनके विचारों ने ही मुझे विश्वास दिलाया कि मैं ऐसी जगहों पर क्यों रहूं और क्यों यहां काम करूं । सुविधासम्पन्न जगहों में तो सब रहते हैं । पिछड़ी जगहों के बच्चों के लिए कौन सामने आये । मेरे लिए ये मौका था, यहां चुनौतियां हैं और हर बात में चुनौतियां हैं, लेकिन उनके समाधान

में लगना मुझे अच्छा लगता है।

*स्कूल जिसे आप समुदाय की शिक्षा का केंद्र मानते हैं, उसमें आप कैसे काम करते हैं?*

मैं जब यहां आया तो गांव में बड़ी मायूसी पसरी थी। संपन्न लोग गांव छोड़कर जा चुके थे या जाने को तैयार बैठे थे। गांव छोड़कर जाने वालों में ज्यादातर फौजी परिवार ही थे। आज के दिन नौकरीपेशा लोगों की बात करूं तो एक पोस्ट मास्टर हैं, एक आर्मी वाले और एक शिक्षक का परिवार। जिनको यहीं रहना था वे सपने देखना भूल चुके थे। सपने देखना भूल चुके लोगों के बच्चों को मुझे पढ़ाना था। सो, मैंने पहले समुदाय पर ही काम करना शुरू किया। आज के दिन स्थिति यहां तक तो पहुंची है कि लोग बच्चों को पांचवीं तक की शिक्षा गांव में ही देने को राजी हो गए हैं। खासकर, जिन परिवारों के पुरुष आजीविका के लिए बाहर हैं, उनके बच्चे अब गांव में ही पढ़ते हैं। संतोष की बात है कि जिन बच्चों को मैंने पढ़ाया आज वो अपनी पढ़ाई जारी रखे हुए हैं। आठ लड़कियां स्नातकोत्तर कर चुकी हैं। अभी इतनी ही स्नातकोत्तर कर रही हैं। लड़के भी पढ़ रहे हैं। मैं लड़कियों की बात इसलिए कर रहा हूं क्योंकि इससे पहले पांचवीं के बाद वे पढ़ती नहीं थीं या पढ़ाई नहीं जाती थीं। 80 फीसदी बच्चे हाई स्कूल और इंटर की कक्षाओं में पहुंच रहे हैं। दो बच्चे इस समय राजीव गांधी नवोदय विद्यालय के लिए चयनित हुए हैं। स्कूल के 15 बच्चे अब तक राज्य स्तर की खेल-कूद प्रतियोगिताओं में प्रतिभाग कर चुके हैं, जिनमें से एक बच्ची ने 100 मीटर रेस में, प्रदेश में प्रथम स्थान हासिल किया है। जो बच्चे पांचवीं या आठवीं के बाद ड्राप आउट हो गए थे, वे कम से कम अब अपनी आने वाली पीढ़ी को ड्राप आउट नहीं होने देंगे। मुझे शहरों में जाकर आठ-दस हजार कमाने वाले युवकों की चिंता है, साधन-संपन्न लोगों के बारे में मैं नहीं सोचता। इस सबसे गांव में चेतना आई है और लोगों का आत्मविश्वास बढ़ा है।

*निश्चित रूप से आपने चेतना बढ़ाने और जगाने का काम किया है, मगर जिस तरह से हमारी सरकारी व्यवस्था काम करती है उसमें यह सब करने*

के लिए सब कुछ बना-बनाया तो नहीं मिलता। आपने ये जो सुन्दर-सुन्दर सनमाइका लगी कम हाइट की टेबल बनाई हैं, गणित के बढ़िया-बढ़िया टी.एल.



एम. अल्मारियों में लगे हैं

जो बच्चों के लिए उपलब्ध हैं। बैठने के लिए इतनी मोटी मैट, इतना साफ-सुथरा मन को भा जाने वाला सब कुछ। कंप्यूटर भी आप बहुत पहले ले आये थे और उसका उपयोग हो रहा है। यह सब संभव करने के लिए आपको किस तरह जूझना पड़ा, मैं ये जानना चाहता हूँ?

शुरु में तो मैं बहुत परेशान हुआ, आखिर कहां से शुरु करूं। समुदाय की समस्याएं स्कूल पर हावी रहती ही हैं। गांव वाले खेती-बाड़ी में डूबे थे। खेती में कोई बरकत नहीं थी। पानी का अभाव है। आज तक यहां सड़क नहीं आई है। सभी बच्चे सामान्य जाति से थे, लेकिन शिक्षा के लिए जरूरी सांस्कृतिक चेतना नहीं थी। लोग मानते थे ऐसे ही चलता आया है, आगे भी ऐसे ही चलते रहेगा। मैं इस तंद्रा को तोड़ना चाहता था। 2001 में एक आईडिया आया। आईडिया ये था कि क्यों न स्कूल का वार्षिकोत्सव मनाया जाए। इस काम में लोक संस्कृति के प्रयोग की बात सोची। इस घटना ने बड़ा प्रभाव डाला। स्कूल और समुदाय के बीच रिश्ते स्थापित हुए। कार्यक्रम में पूरे गांव वाले बुलाये गए थे। बच्चों की टीम ने फिर जिला स्तर पर लोक नृत्य प्रतियोगिता में प्रथम स्थान हासिल किया तो उससे गांव वालों का रुझान और मजबूत हुआ। तब से अब तक वार्षिकोत्सव होता है। इसके लिए लंबी तैयारी चलती है। इस घटना से काम करने में मेरा भी उत्साह बढ़ने लगा। मैं हारमोनियम ले आया, बजाना नहीं आता लेकिन सीख लिया। फिर सारे वाद्ययंत्र ले आया। कोरियोग्राफी सीखी और बच्चों को सुंदर-सशक्त अभिनय के लिए काम करने लगा। गांव वालों की रुचि कम न हो, बच्चों के लिए दो साइकिल ले आया। बाद में श्री भुवनेश्वरी आश्रम वालों ने दो और दे दी। स्कूल का नाम होने लगा तो एस.बी.आई. वालों ने पंखे दे दिए। नगरों में



काम करने वाले मेरे पढ़ाये बच्चों को स्कूल का प्रगति के पथ पर जाना अच्छा लगा, वे इस कार्यक्रम में आते हैं। इसी साल दिल्ली में काम करने वाले ऐसे ही युवकों ने खुद

से चंदा करके एक प्रोजेक्टर दे दिया है।

*आपके भरोसे ने काम किया। यह सब आपके समर्पण का ही परिणाम है। आप टूट जाते और ढीले पड़ जाते तो यह सब मुमकिन न होता। मेरी यह जानने की इच्छा है कि आप विभिन्न सांस्कृतिक गतिविधियों को बच्चों के सीखने से कैसे जोड़ते हैं?*

मैंने परिवर्तन का संकल्प लिया था और गांव को अपनी प्रयोगशाला माना था तो पराजित तो होना नहीं था। शिक्षक का काम पढ़ाना है, और यह उसकी स्वायत्तता है कि वह पढ़ाये कैसे। पता नहीं बाकी को ये स्वायत्तता मिलती है या नहीं, लेकिन मैंने अपने लिए ली है। अगर यह न होती तो मैं या तो स्कूल में हाजिरी लगाने वाला कर्मचारी बन जाता या शायद यह नौकरी ही छोड़ देता। मैं जब शिक्षक बना तो एम.एस.सी. और बी.एड. करके आया था। गैरसँण में एक कोचिंग इंस्टीट्यूट चलाया करता था। वह भी इस गरज से कि यहां के बच्चे प्रतियोगी परीक्षाओं में मुकाबला कर सकें। छोटे बच्चों को हैंडल करने का और बाल मन समझने का कोई अनुभव नहीं था। हां सीखने की इच्छा जरूर थी। पढ़ने का शौक रहा इसलिए लाइब्रेरी तो मेरे साथ ही आई थी। धीरे-धीरे अनुभव हुआ कि दर्शन और प्रवचन वाला साहित्य तो बच्चों के काम का नहीं। इसी समय मुझे लाइब्रेरी बनाने में एस.बी.एम.ए. और रूम टू रीड संस्था ने बड़ी मदद की। अब बच्चों के लिए रुचिकर और आकर्षक पुस्तकें स्कूल में आ गयी थी। इससे बड़ी मदद मिल गयी। मैं अपने घर तो बहुत कम जाता था, यहीं रहता सो पढ़ता रहता या स्कूल का कोई कंस्ट्रक्शन करता रहता। अपने स्कूल के आंगन के लिए पत्थर मैंने खुद फोड़े।



इस काम में गांव के कुछ युवकों ने मेरी मदद की। अब हमारे पास एक सुंदर आंगन है जिसमें पूरे में सीमेन्ट कंक्रीट का फर्श है। एक खुला स्टेज है, जिस पर टाइल लगी हैं। दो सुन्दर और आरामदायक शौचालय 55 हजार में बनवाये जिसे किसी सरकारी स्कूल में कल्पना नहीं की जा सकती। उसी में एक स्टोर रूम भी निकाल दिया गया है। हमारी पानी की टंकी पर विश्व का मानचित्र बना है और मेरे बच्चे सारे देशों के नाम और चित्र आपको बता सकते हैं। बच्चों के लिए मैं 80 इंच का बड़ा एल.सी.डी. टी.वी. ले आया, जो पढ़ाई-लिखाई को रुचिकर बनाने में बड़ा ही कारगर साबित हुआ है। एक रोचक बात बताता हूं पास में जल संस्थान का खंडहर था। मैंने उस पर 50-60 हजार रुपये खर्च कर अपने रहने के लिए रूम निकाल लिया। मैं सालों से इसी में रहता हूं। वहीं मैं अपने लिए फ्रिज और वाशिंग मशीन ले आया, वो कैसे काम करते हैं ये मेरे बच्चे जानते हैं। मुझे उनकी वहां जरूरत नहीं थी, लेकिन बच्चे इन चीजों के बारे में जान पायें और कभी हीनताबोध न महसूस करें, इसलिए उनके एक्सपोजर के लिए मैंने ये खरीदे। स्कूल में, बच्चों में और गांव में इतना रम गया कि शादी करने का विचार भी त्याग दिया। शादी करने का विरोधी हूं, ऐसा नहीं है लेकिन सच में समय नहीं मिला। आप मुझसे पूछ रहे थे कि मैं गतिविधियों को सीखने से कैसे जोड़ता हूं तो मैं बताता हूं। मेरे बच्चे 30 तक का पहाड़ा आपको सुना सकते हैं। बड़े बच्चे ही नहीं सभी के सभी बच्चे। ये रटे हुए नहीं हैं, किसी व्यावहारिक गतिविधि से जोड़े गए हैं। पहाड़ा इस तरह होता है कि बच्चे दो-दो, चार-चार, पांच-पांच, छह-छह आदि के समूह बनाकर गीत और नृत्य करते हैं। मूर्तता में जितना संभव हो सकता है उसमें बता सकते हैं। बड़े बच्चों को यह गुणा करके बताना भी आता है। वे बड़ी से बड़ी संख्याएं पढ़ लेते हैं। एटलस में वे आपको विभिन्न देशों के बारे में बता देंगे और टंकी में बने बड़े मानचित्र में उन्हें दर्शा देंगे। ऐसा वे महाद्वीप के हिसाब से भी बताएं जैसे आप पूछेंगे वेस्ट इंडीज देश कहां हैं तो वे उसे आपको वहां पर दर्शा कर बताएं। देशों के नाम याद करने, उन्हें पहचानने का काम तो पहले ही कर लिया गया था, बाद में मैंने उन देशों की खासियत वाली पहचानों पर काम किया। आज वे आपको उन देशों के बारे में विस्तार से बता सकते हैं। ऐसा ही स्थानीय जनपदों के बारे

में भी वे आपको बता देंगे। मेरी एप्रोच लोकल से ग्लोबल की रहती है। दृश्य से अदृश्य या मूर्त से अमूर्त। मेरे स्कूल के बच्चे ढेर सारा टी.एल.एम. निर्मित कर लेते हैं। पहले से बनाये हुए टी.एल.एम. की उन्हें जरूरत नहीं होती, वे तत्काल और जरूरत के हिसाब से बनाते हैं। हमारे यहां आप चार्ट्स के ढेर देख सकते हैं। ई.वी.एस. की किताब मैंने कभी नहीं खोली। कभी नहीं। किताब की जरूरत ही नहीं पढ़ी। बच्चे स्थानीय परिवेश के बारे में इतना बता सकते हैं कि किताब रखी रह जाती है। घर, परिवार, पड़ोस, पहाड़, नदी, चिड़िया, खेती, आजीविका पर आप उनसे जितना चाहें बुलवा लें। भाषा सिखाने के लिए मेरे पास सबसे बड़ा औजार है लोक गीत, लोक भाषा, लोक नृत्य। इनमें भाषा ही भाषा है। ऐसी भाषा जिसमें आप जीते हैं, उसका उपयोग करते हैं। जब लोक ज्ञान को हम महत्व देते हैं तो उन्हें हिंदी और अंग्रेजी सीखने में भी मदद मिलती है। हमारे बच्चे धड़ाधड़ अंग्रेजी बोलते हैं, इसके लिए उन्हें बोलने, कुछ भी बोलने और गलतियां करने के लिए प्रोत्साहित किया गया। बड़े बच्चे अंग्रेजी के लंबे-लंबे संवाद बोल लेते हैं और आपस में बातचीत कर लेते हैं। मैंने वार्षिकोत्सव में जो काम किया उससे मुझे यह सब आजमाने का मंत्र मिला। लोक भाषा और उसके उपयोग को लेकर मेरा खुद का भी नजरिया बदला। शायद हमारे गांवों का ज्ञान जो बच्चों के माध्यम से आगे बढ़ता है उसे मान्यता देने की जरूरत है, क्योंकि यही एक चीज है जो उनके पास अतिरिक्त पूंजी की तरह है।

*अपने खुद के विकास यानी शिक्षक के रूप में अपने पेशेवर विकास को आप कितना महत्वपूर्ण मानते हैं और कितना समय उसके लिए निकाल पाते हैं?*

मैं एम.एस.सी. (जुलॉजी) करके आया था। लेकिन बच्चों की रुचि और उत्साह को देखकर मैं भूगोल में घुस गया। आज के दिन मुझे जुलॉजी से अधिक जियोग्राफी आती है। यह सीखने की मेरी इच्छा का परिणाम है। बच्चों को समझना, उनके मन को पढ़ पाना थोड़ा जटिल काम तो है लेकिन है बड़ा रोचक। कोई बच्चा कैसे सीख रहा है, कहां जूझ रहा है और कैसे उत्तरोत्तर विकास कर रहा है यह देखना आपको सिखाता जाता है। एक से सीखा हुआ दूसरे बच्चे के साथ काम करने में मदद करता है। आश्चर्य होता

है उस बच्चे को देखकर जो कक्षा एक में गुमसुम रहता था और पांचवीं तक पहुँचने तक वाचाल हो जाता है।

शिक्षक का अपना विकास करना, अपने को लगातार ताजा करना बेहद जरूरी है। मैं विभाग द्वारा दिये जाने वाले सेवाकालीन प्रशिक्षण में गंभीरता से शिरकत करता हूँ, लेकिन आप समझ सकते हैं वहाँ कितना मिलता है। हम वहाँ जाते हैं, कुछ सीखने को लेकिन कुछ मिलता जैसा नहीं। जब से मेरे स्कूल में हमारे सहायक अध्यापक निराला जी आये हैं, मैं उन्हें मास्टर ट्रेनर बनने के लिए प्रोत्साहित करता हूँ। इससे हमारे स्कूल का अनुभव तो बाहर चला ही जाता है, प्रशिक्षण देते हुए आपको सीखना भी पड़ता है, जो बाद में स्कूल में काम आता है। साल में कुछ दिन घूमना मेरा एक शौक है, जो छुट्टियों में मैं करता हूँ। इससे ताजगी मिलती है. नया करने का मन होता है। आप बाहर के दृश्य देखते हैं तो आपके अन्दर कुछ हलचल होती है। लेकिन मेरा घूमना नगरों में जाने वाला नहीं होता। ज्यादातर मैं यहीं इन्हीं पहाड़ों में विचरता हूँ।

यह सब काम भा गया, इसलिए मैंने अपनी तनखाह की भी परवाह नहीं की। स्कूल के कामों में अब तक पांच लाख रुपयों से अधिक अपने लगा चुका हूँ। वह लगा दिया मुझे वह वापस नहीं चाहिए। वह मेरी संतुष्टि में मुझे वापस मिल गया है। हां, विभाग ने भी जब मेरा समर्पण देखा तो एक अतिरिक्त कक्ष दिया। खुद अधिकारी मेरे स्कूल तक पैदल चलकर आये। मुझे राज्यपाल से पुरस्कार लेने के लिए कहा गया। पुरस्कार मेरी इच्छा नहीं थी, लेकिन इससे विभाग की इकाई यानी स्कूल को मान्यता मिलती है इसलिए मैं इसे लेने के लिए राजी हो गया। कुल मिलाकर मैं तो सीखने की नदी में हूँ। यहां कोई अंतिम मंजिल नहीं और कोई भी सीखा हुआ हमेशा के लिए नहीं है। छुट्टियों का बड़ा हिस्सा मैं यहीं गांव में रहकर बिताता हूँ। बच्चे भी तब आ जाते हैं और हम कुछ न कुछ रचनात्मक करने में जुट जाते हैं। मेरी सबसे बड़ी ख्वाहिश यही है कि गैरसँघ क्षेत्र के बच्चे बाकी दुनिया से किसी मायने में पीछे न रहें।

*(धनश्याम ढाँडियाल से हुई भास्कर उप्रेती की बातचीत पर आधारित)*